प्रोफ़ेसर

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

आज फिर उनके सम्मान में हज़रत 'रंजूर' अकबराबादी, एडिटर, प्रिंटर, पब्लिशर व प्रूफ़रीडर, त्रैमासिक "नया क्षितिज" ने एक जलपान समारोह आयोजित किया था।

जिस दिन से प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए.बी.टी. गोल्ड मेडलिस्ट (मिर्ज़ा कहते हैं कि यह स्वर्ण पदक उन्हें मिडिल में बिला-नाग़ा हाज़िरी पर मिला था) यूनिवर्सिटी की नौकरी से इस्तीफ़ा देने के बाद बैंक ऑफ़ चाकसू लिमिटेड में डायरेक्टर पब्लिक रिलेशंज़ एंड एडवरटाइज़िंग के पद पर धांस दिए गए थे, उनके सम्मान में इस प्रकार के जलपान समारोह, स्वागत समारोह और रात्रिभोज रोज़मर्रा ज़िन्दगी का भाग बल्कि भाग्य बन गए थे। घर पर हलाल कमाई का खाना तो सिर्फ़ बीमारी की हालत में ही ज़हरमार फ़रमाते थे, वर्ना दोनों वक़्त "स्वागती खाना" खाते थे। बैंक की नौकरी प्रोफ़ेसर महोदय के लिए एक अजीब परीक्षण साबित हुई, जिसकी क़ीमत वे हर हाल में महीने की तीस तारीख़ को वसूल कर लेते थे।

क्षमा कीजिए, इस रेखाचित्र में हम उन्हें प्रोफ़ेसर ही कहेंगे। बक़ौल मिर्ज़ा, आदमी एक दफ़ा प्रोफ़ेसर हो जाए, तो उम्र भर प्रोफ़ेसर ही कहलाता है, चाहे बाद में समझदारी की बातें ही क्यों न करने लगे। शिक्ष-दीक्षा तो एक नैतिक बहाना थी, वर्ना बक़ौल मौलाना मोहम्मद हुसैन आज़ाद[1] प्रोफ़ेसर का पेशा तवक्कुल[2] था और बददिमाग़ी से उसे रौनक़ देते थे।" वे किसी के दबैल नहीं थे। दबंग और दिलेर आदमी थे और ख़तरे से डरना बचना तो दूर, कभी-कभी साँप को रस्सी समझकर गुथ मरते थे। उनका साहस अब निडरता से गुज़रकर शूरवीरता और शूरवीरता से गुज़रकर मूर्खता की अलौकिक सीमाओं में प्रवेश कर चुका था। कोई आदमी उनसे नौकरी, बहस या ब्रिज में आगे बढ़ जाए तो उसके पूरे प्रदेश से नफ़रत हो जाती थी। भारतीय उपमहाद्वीप का कोई प्रदेश बचा होगा, जिससे उनकी निजी दुश्मनी न हो। बल्कि अब तो छोटी-छोटी तहसीलें भी आँखें दिखाने लगी थीं।

वाइस-चांसलर को भरी मीटिंग में "शट-अप!" कहने के बाद वे तीन महीने का अवकाश लेकर घर बैठ गए और विरोध प्रकट करने के लिए अख़बार तक पढ़ना छोड़ दिया कि उसमें गाहे-माहे वाइस-चांसलर की तस्वीर छप जाती थी। यूँ भी उन्होंने ज़िन्दगी भर ज़बान के अलावा किसी दूसरे अंग को कष्ट नहीं दिया था, लेकिन अब चौबीस घंटे में एक दफ़ा ज़बरदस्त चुस्ती दिखाते थे। वह उस वक़्त जब दिन भर आराम कुर्सी पर ऊँघते रहने के बाद वे शाम को आठ बजे सोने के लिए बड़ी फुर्ती से उछलकर पलंग पर चढ़ते थे। अपने पेशे से

---

[1] मौलाना मोहम्मद हुसैन आज़ाद: (1830-1910): उर्दू के शैलीकार लेखक और शायर। इनकी सबसे मशहूर रचना "आब-ए-हयात" है जिसमें उर्दू शायरी के इतिहास को पाँच युगों में विभाजित करके हर युग के कुछ बड़े शायरों का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। (अनु.)

[2] तवक्कुल : अपनी इच्छा व मर्ज़ी को ख़ुदा की मर्ज़ी में पूर्णतया विलय कर देना और हर स्थिति में संतुष्ट रहना। (अनु.)

तंग आ चुके थे और कहते थे तुम्हारा ख़याल आ जाता है वर्ना अक्सर जी में आता है कि घर[1] को आग लगाकर किसी वीरान टापू में एक लोटा, डोर, फ़्रूट साल्ट और दीवान-ए-ग़ालिब लेकर चला जाऊँ। बेज़ारी की हालत में पाक बोहीमियन[2] कॉफ़ी हाउस में नथुनों की चिमनी से KINGS STORK सिग्रेट का धुआँ ख़ारिज करने के बाद कुर्सी पर उकड़ूँ बैठ गए मुट्ठी भींचकर कहने लगे:

"अगर मैं इस देश का प्राइम-मिनिस्टर होता तो-----"

"तो -------?" हमने पूछा।

"तो यूनिवर्सिटी में नौकरी नहीं करता!" उन्होंने मुट्ठी खोल दी।

वे प्राइम-मिनिस्टर ज़रूर होना चाहते थे, मगर जिस मात्रा में वे मन की शान्ति और फ़ुर्सत चाहते थे, वह हमारे यहाँ सिर्फ़ प्राइमरी स्कूल के मास्टर को उपलब्ध है। '*फ़ुर्सत हो और किताब हो*' का जहाँ इतना अमल-दख़ल हो तो आप ख़ुद अनुमान लगा सकते हैं कि शिक्षक का पेशा छुड़वाने में हमें कैसे-कैसे सब्ज़ बाग़ दिखाने पड़े होंगे। लेकिन इस नेक काम में हमें ज़्यादा झूठ नहीं बोलना पड़ा, इसलिए कि ज्ञान व साहित्य से विमुख करने में विश्वविद्यालय के विद्वानों ने ऐसी प्रबल भूमिका निभाई कि प्रोफ़ेसर का दिल अपने पेशे से खट्टा हो गया। अवकाश के दौरान ख़बर आई कि यूनिवर्सिटी ने उनके एक "जूनियर" को 1857 ई. में दिल्ली के सौदा बेचने वालों की आवाज़ों पर रिसर्च करने सात समुन्दर पार लन्दन भेजा है। प्रोफ़ेसर ने उसी वक़्त हमारे बेटे की चार लाइन वाली कॉपी पर इस्तीफ़ा लिखकर बैरंग पोस्ट कर दिया और अपना अधूरा थीसिस "चाकसू (ख़ुर्द) स्कूल की कविता" (जिसका विषय उन कवियों की रचनाएँ थीं, जिनका जन्म कहीं और होने के बजाय चाकसू ख़ुर्द में हो गया था) फाड़कर फेंक दिया। इस थीसिस के पंद्रह साल तक अधूरे रहने की बड़ी वजह यह थी कि कुछ ऐसे कविगण जिनपर वे समीक्षा करना चाहते थे, उनके स्वर्गवासी होने में अभी बहुत देर मालूम होती थी।

तो यह उस ज़माने का ज़िक्र है जब प्रोफ़ेसर अपनी बोसीदा कश्ती जला ही नहीं चुके थे बल्कि उसकी राख से तन पर भभूत रमाये मूर्खों के मन की आँखें खोलते फिरते थे!

क्लास-रूम से बैंक तक पहुँचने में प्रोफ़ेसर को किन नैतिक पगडंडियों से गुज़रना पड़ा, यह उनका दिल जानता है या हम। इसका ज़िक्र किसी अनुचित अवसर पर करेंगे। बैंक में अफ़सरी से उनके कन्धों का प्रोफ़ेसराना झुकाव तो दूर न हुआ, मगर बहुत से और सुखद परिवर्तन, कुछ स्वत:, कुछ औरों के कहने सुनने से, उनके व्यक्तित्व में पैदा होते चले गए। अब तक उनका व्यक्तित्व SELF-MADE (स्वनिर्मित) था। यानी उसमें उन्होंने दर्ज़ी, धोबी, डॉक्टर और नाई को सुधार करने का कोई मौक़ा नहीं दिया था। प्रोफ़ेसरी के आरंभिक दिनों में जब लड़के बिल्कुल लड़कों जैसी हरकतें करने लगे तो हम सब ने सलाह दी कि लबो-लहजे में डपट और व्यक्तित्व में रौब-दाब पैदा करो। दूसरे ही दिन उन्होंने जूतों में पौन इंच मोटा तल्ला लगवा लिया और ऊँची बाढ़ की टोपी पहननी शुरू कर दी, जिससे क़द तो ख़ैर क्या बढ़ता, अलबत्ता स्वाभिमान इतना ऊँचा हो गया

---

[1] यह घर यूनिवर्सिटी का था और जिस फ़र्नीचर से सुसज्जित था उसका साल भर का किराया चढ़ा हुआ था। (ले.)

[2] PALK BOHEMIAN COFFEE HOUSE जहाँ मिर्ज़ा रोज़ाना शामको लौंडई मचाये रखते थे। (ले.)

कि हमने उन्हें बादशाही मस्जिद के दरवाज़े से भी झुककर निकलते देखा। राई अहंकार फूलकर पर्वत बन चुकी थी। किरदार भी उनका अपना नहीं रहा था। शाहीन[i] की आदत अपना ली थी। यानी बार-बार अपने विषय और संबोध्य पर *झपटना, पलटना, पलटकर झपटना*[ii]

झूठ क्यों बोलें, हमने कभी शाहीन नहीं देखा। अल्लाह जाने उसकी मूँछें होती हैं या नहीं। बहरहाल उन्होंने रख ली थीं जो बराबर ताव देते-देते काग खोलने के स्क्रू जैसी हो गई थीं। दाईं मूँछ हमेशा सफ़ेद रहती थी। इसलिए कि ब्लैक-बोर्ड पर सफ़ेद चॉक से लिखते-लिखते, उसी चुटकी से बल देते रहते थे। और यह आदत इतनी पक्की हो चुकी थी कि हालाँकि बैंक का नियुक्ति-पत्र मिलते ही मूँछ का सफ़ाया कर दिया, लेकिन बेचैन चुटकी से महीनों उस जगह को ताव देते रहे, जहाँ कभी मूँछ हुआ करती थी। इन तब्दीलियों का यह असर हुआ कि लड़कों ने उनके लेक्चर की फ़ाश-ग़लतियों पर हँसना छोड़ दिया। अब उनके हुलिए पर ठट्ठे लगाते थे।

नियुक्ति के तीन महीने बाद बैंक ने प्रोफ़ेसर को जनसंपर्क और एडवरटाइज़िंग के प्रशिक्षण के लिए छह हफ़्ते के कोर्स पर पैरिस भेजने का निर्देश दिया। और यह भी पेशकश की कि अगर आप अपनी बेगम को साथ ले जाएँ तो हमें बेहद खुशी होगी। दोनों के फ़र्स्ट क्लास टिकट और होटल के सारे ख़र्चे बैंक के ज़िम्मे होंगे। पत्र मिलते ही मन में शहनाइयाँ बजने लगीं। कराची की उन सारी महिलाओं की, जिनके सम्पूर्ण अधिकार अभी तक असुरक्षित थे, एक मुकम्मल फ़ेहरिस्त हमसे बनवाई और फिर पसर गए कि फ़िलहाल उनमें से किसी एक से निकाह करवा दो ताकि टिकट बेकार न जाए और हनीमून मुफ़्त पड़े। अगर मिर्ज़ा ने एक ही जुमले से उनके मन की सारी गाँठें खोल न दी होतीं तो खुदा जाने कब तक हमारी जान के पीछे पड़े रहते। फ़रमाया, "बीवी को पैरिस ढोकर ले जाना ऐसा ही है जैसे कोई एवरेस्ट फ़तह करने निकले और थर्मस में घर से बर्फ़ की डली रखकर ले जाए!"

पैरिस (जिसे अब वे प्यार में "पैरी" कहते थे) से लौटने को तो लौट आये लेकिन दिमाग़ वहाँ के क़हवा-ख़ानों, और दिल क़हबा-ख़ानों (वेश्याघरों) में छोड़ आये। अपनी माटी की काया को पाकिस्तान में घसीटे फिर रहे थे। सामने बक़ायादारों के खाते खुले पड़े हैं, मगर आँखों में वही सुन्दर मुखड़े फिर रहे हैं

कि देखें जिनको यूरोप में तो दिल होता है सीपारा[iii]

एक-एक से पूछते थे पाकिस्तान में फ़्रांसीसी क्रान्ति कब आएगी? इस क्रान्ति के स्वागत के लिए वे अपनी पतलून की "क्रीज़" उस्तरे की धार जैसी बनाए रखते थे। पुराने फ़ैशन की ग़रारे-नुमा पतलूनों के पायंचे उनकी बहन ने

---

[i] शाहीनः बाज़ प्रजाति का एक शिकारी पक्षी। इक़बाल की कविताओं में यह अमल और साहस का प्रतीक है। (अनु.)

[ii] झपटना, पलटना, पलटकर झपटना // लहू गर्म रखने का है इक बहाना (अल्लामा इक़बाल)

[iii] इक़बाल की कविता "इस्लाम के नौजवानों से ख़िताब" के निम्नलिखित शेर की ओर संकेतः
मगर वो इल्म के मोती, किताबें अपने आबा की // जो देखें उनको यूरोप में तो दिल होता है सीपारा
सीपाराः टुकड़े; शाब्दिक अर्थ है तीस टुकड़े, क़ुरान के तीस खण्डों में से कोई भी एक खंड; आबाः पूर्वज (अनु.)

गावतकियों पर ग़िलाफ़ के तौर पर चढ़ा दिए, और उनकी ऊँची बाढ़ की टोपी से एक ख़ूबसूरत टीकोज़ी बनाई, जिसे उठाते ही उनका सिर याद आता था। पहले अपने पिताश्री को भी पत्र लिखते थे तो आख़िर में "आज्ञाकारी, प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए.बी.टी. गोल्डमेडलिस्ट" लिखकर गोल्डमेडलिस्ट के नीचे एहतियातन रेखा खींच दिया करते थे कि बन्दा आदमी है, कहीं नज़र चूक जाए। लेकिन अब काग़ज़ पर कलेजा निकालके रख देने के बजाय बैंकरों के अंदाज़ में दस्तख़त की जगह एक जलेबी सी बना दिया करते थे, जिसकी नक़ल कम-अज़-कम काग़ज़ पर कोई हलवाई भी नहीं कर सकता। कॉलर में धोबी से ख़ास तौर पर कलफ़ लगवाते। ख़ुद भी अंग्रेज़ी उच्चारण में ख़ूब कलफ़ लगाने लगे थे। दलिद्दर दूर होते ही समय की पाबंदी भी तकलीफ़देह हद तक करने लगे। जब से अँधेरे में वक़्त बताने वाली घड़ी ख़रीदकर लाए थे, उन्हें दिन से सख़्त उलझन होने लगी थी। फ़र्श पर बैठने के बचपन से आदी थे। वह छोड़ा तो नहीं, लेकिन अब गावतकिये का सहारा लेकर नहीं बैठते थे। उसे गोद में लेकर बैठते थे। संक्षेप में यह कि "पर्सनैलिटी" निकल आई थी। बैलगाड़ी में जेट लड़ाका हवाई जहाज़ का इंजन लग गया था।

त्रैमासिक "नया क्षितिज" के सम्पादक जिन्होंने इस जलपान समारोह का आयोजन किया था, कविता के अद्भुत मर्मज्ञ हैं। शेर को ग़लत पढ़कर और ग़लत समझकर भी ऐसे भावविभोर होते हैं कि अच्छे-अच्छे सही समझने वाले बग़लें झाँकते रह जाते हैं। रोज़मर्रा बातचीत में भी ख़ुद को 'प्रस्तुत लेखक' कहते हैं। जैसे ही हम टाट का पर्दा उठाकर "नया क्षितिज" के दफ़्तर में दाख़िल हुए, सम्पादक महोदय ने हमारे सलाम के जवाब में दो-तीन दफ़ा अपना हाथ बगुले की गर्दन की तरह मोड़-मोड़कर हमें दिखाया, जिसे हमने बदतमीज़ी समझकर नज़रअंदाज़ कर दिया। मगर ज्यों ही हमारा सिर छत से टकराया, हमारी समझ में आ गया कि 'रंजूर' साहब ने जो हाथ का बगुला बनाकर हमें चिढ़ाया था, तो वह दरअसल सिर घुटनों में देकर चलने का संकेत था, क्योंकि दफ़्तर की छत मुश्किल से छह फ़िट ऊँची होगी। वह तो ख़ुदा भला करे मिर्ज़ा का, अगर वे हमारी गर्दन में लटककर हमें तुरंत दोहरा न कर देते, तो हमारा सिर ऊपर चलते हुए पंखे से कब का बड़ी सफ़ाई से कटकर उनके चरणों में जा गिरा होता। और हम तो क्या, हमारे बीमे की रक़म तक ख़ुर्द-बुर्द हो चुकी होती।

सिर उतारने के अलावा पंखे का अतिरिक्त उपयोग, किसी के शब्दों में, गर्म हवा को सारे कमरे के हर हिस्से में बराबर-बराबर फैलाना था ताकि कोई हिस्सा वंचित न रह जाए। जैसे ही हम सिर और तन की नाज़ुक सी डोर की हिफ़ाज़त करते हुए आगे बढ़े, त्रैमासिक "नया क्षितिज" के सम्पादक ने अपना बायाँ हाथ मिलाने के लिए पेश किया। हमने भी शिष्टाचारवश अपना बायाँ निकाला तो चारों तरफ़ से खी खी की आवाज़ें आने लगीं। हमने झेंपकर झट उसे दाईं जेब में ठूँसने की कोशिश की। फिर याद नहीं, कौन सी जेब में से अपना दायाँ खींचकर निकाला और उसे उनके बाएँ से मिलवाने की कोशिश की। खी खी। खीखी। की आवाज़ें और तेज़ हो गईं। तड़पकर उन्होंने अपना हाथ छुड़ाया और दोनों हाथों से हमारी दाईं कलाई मरोड़ के हथेली का रुख़ अपनी तरफ़ किया। फिर हमारी हथेली को अपनी हथेली से दो-तीन दफ़ा प्रेम से रगड़ा, जिसे हम इन हालात में हाथ मिलाना कह दें तो इसे अतिश्योक्ति न समझा जाए।

दरअसल हमारी ही भूल थी। इसलिए कि हर आदमी जानता था कि 'रंजूर' साहब दो साल से बाएँ हाथ से हाथ मिलाने लगे हैं, जिसकी एक वजह यह थी कि विगत बारह वर्ष से वे बाएँ हाथ में एक सूटकेस लटकाए फिरते थे, जिसे विनम्रतापूर्वक ब्रीफ़केस कहते थे। इसमें बारह साल के सारे करतूत, तमाम विशेषांक और बीवी के हाथ की बनाई हुई गिलौरियाँ बंद रहती थीं। दोनों में एक दूसरे की बू-बास इस तरह रच बस गई थी कि विज्ञापन-दाताओं को "तवायफ़ नम्बर" खोलकर दिखाते तो महसूस होता मानो पानदान खुल गया, और कभी चाँदी के वरक़ में लिपटी, लखनवी किमाम और सस्ती खुशबुओं के भभके मारती गिलौरी खिला देते तो लगता कि "तवायफ़ की पापबीती" बल्कि खुद उसी को चबा रहे हैं। ब्रीफ़केस उठाए फिरने से उनका बायाँ कंधा स्थाई रूप से झुक गया था और अब यह ज़ंबील (पिटारी) हाथ में न हो तब भी उनका बायाँ हाथ घुटने को छूता था। जब उन्हें साहित्य जगत में LEANING TOWER OF PISA की उपाधि से याद किया जाने लगा तो शुरू-शुरू में बहुत इतराते फिरे। फिर एक दिन मिर्ज़ा ने एकांत में समझाया कि संकेत तुम्हारे सियासी झुकाव की तरफ़ नहीं है तो चौंक पड़े, "अच्छा! यह बात है!" कन्धों की बारह साल पुरानी कान (टेढ़) के लिए मिर्ज़ा ने यह वर्ज़िश सुझाई कि आइन्दा बारह साल तक दूसरे हाथ से उठाओ। इसलिए उन्होंने ब्रीफ़केस दायें हाथ में स्थानांतरित कर दिया और बाएँ हाथ से हाथ मिलाने की आदत डाली। गिलौरी भी अब बाएँ के बजाए दाएँ कल्ले में रखने लगे। यह उसी ज़माने का ज़िक्र है।

उपर्युक्त हस्त-मिलन हो चुका तो प्रोफ़ेसर ने हमारा परिचय कराया कि "आपसे मिलिए। आप हमारे साथ पाँचवी कक्षा में दीनियात (धर्मशास्त्र) के पर्चे में नक़ल करके फ़ेल हुए थे।" उस वक़्त दो-छत्ती के नीचे दस-बारह आदमी बैठे होंगे, हालाँकि कुर्सियाँ दो ही नज़र आ रही थीं। एक की टाँगें शराबी जैसी थीं। इसपर मेज़बान यानी "नया क्षितिज" के एडिटर लड़खड़ा रहे थे। दूसरी की पुश्त और पायों का घुना हुआ हिस्सा छह-छह इंच काट दिया गया था। इस पीढ़ी पर मुख्य-अतिथि कुंडली मारे बैठे थे। उनकी ठोड़ी मेज़ पर इस तरह धरी थी जैसे मेलों और क़स्बाती नुमाइशों के जादूघर में मदारी के जमूरे का कटा हुआ सिर रखा होता है। सामने "नया क्षितिज" की अविक्रेय कॉपियों के बंडल दीवार के साथ बड़े सलीक़े से चुने हुए थे। उन पर पत्रिका के सहायक संपादक बिठाए गये थे। यह नहीं कि मेज़बान को अपने प्रिय मेहमानों के कष्ट का अहसास न था। हर आने वाले की आवभगत वे इस तरह करते कि झपाक से अपने नीचे से रूई की गद्दी निकालकर उसे पेश करते और "जी आप! नहीं आप! अरे साहब! क्यों काँटों में घसीटते हैं?" की औपचारिक तकरार के बाद उसे वापस अपनी ही कुर्सी पर ढक देते कि उत्तरोल्लिखित में एक सूराख़ था, जिसमें से दो फ़ुटबाल बग़ैर रगड़ खाए गुज़र सकते थे। दरवाज़े के तीन तरफ़ ज़ंग लगे कनस्तरों पर दफ़्तर का साइनबोर्ड रखकर बजता हुआ सोफ़ा बना दिया गया था। यह आसन आलोचकों के लिए आरक्षित था। हमें अप्रकाशनीय अश्लील कहानियों के एक पुलंदे पर बिठाया गया, जिनकी गर्मी भी अभी ठीक से नहीं निकली थी। संलग्न कमरे से हर उम्र के बच्चों की आवाज़ें आ रही थीं। दफ़्तर की दीवारें देखकर ख़याल होता था कि यहाँ स्लेट का रिवाज नहीं है। कुछ देर बाद उन्हीं में का एक बच्चा एल्युमिनियम का जग लेकर आया और प्राच्य-पेय यानी शुद्ध पानी का दौर चला। पानी वाक़ई बहुत पारदर्शी था। इतना पारदर्शी कि गिलास का पेंदा साफ़ नज़र आ रहा था। ज़रा देर में सब छक

गए तो पान पेश किए गए, जिन्हें इस बार गिलौरी कहने में इसलिए झिझक है कि वो इतने नन्हे-मुन्ने थे कि छालिये के दाने उनमें समा नहीं सकते थे। लिहाज़ा छालिया अलग से पेश की गई। हाँ तम्बाकू प्रचुर मात्रा में था। जिसका जितना जी चाहे, खा ले।

इन औपचारिकताओं के बाद जलसे की कार्यवाही शुरू हुई। चार नामवर आलोचकों ने प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए.बी.टी. (गोल्डमेडलिस्ट) के लेख "टी.एस.इलियट व शेख़ इमामबख़्श 'नासिख़'[1] की तुलना" पर लेख पढ़े। यूँ तो यह लेख प्रोफ़ेसर महोदय ने पचीस साल पहले अपने विद्यार्थी जीवन में क़लमबद्ध किया था, मगर आलोचकों ने इसपर बिल्कुल नए कोणों से प्रकाश डाला था।

आख़िर में मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग ने अंतिम वक्ता के तौर पर भाषण पढ़कर दोस्ती का हक़ अदा किया। उन्होंने "बैंक ऑफ़ चाकसू साहित्य पुरस्कार" का एक क्रांतिकारी सुझाव भी पेश किया। सुझाव यह था कि कुछ क़लम के धनी ऐसे हैं जो अगर लिखने से बाज़ आ जाएँ तो उर्दू पर बड़ा अहसान होगा। बैंक ऑफ़ चाकसू प्राइज़ उन्हीं साहित्य-सेवकों को प्रदान किया जाएगा। इस बात की पूरी छानबीन करने के बाद कि किस लेखक ने साल भर वाक़ई कुछ नहीं लिखा है, जज वार्षिक फुसलावे की घोषणा करेंगे। पुरस्कार प्राप्तकर्ता लेखक अगर लेखन व सृजनकार्य से सीधी तरह बाज़ आ जाए तो "लाइफ़-पेंशन" का हक़दार होगा जो सत्यनिष्ठा की शर्त पर उसे प्रतिमाह मिलती रहेगी। अगर सामयिक मृत्यु हो जाए तो विधवा के लिये माक़ूल मुआवज़ा भी निर्धारित किया जाएगा बशर्तेकि वो तमाम अप्रकाशित रचनाएँ जो स्वर्गीय चोरी-छिपे रचते रहे, उनके साथ ही दफ़न कर दी जाएँ।

इसपर हमने ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ और पास वाला कनस्तर बजाया, और अल्लाह जाने कब तक बजाते रहते अगर मिर्ज़ा एकाएक ऐलान न कर देते कि इस सिलसिले के पहले पुरस्कार का हक़दार सारे पाकिस्तान में हम (यानी प्रस्तुत लेखक) से ज़्यादा और कोई नहीं!

हमारी यह दुर्गत हफ़्ते में चार-पाँच दफ़ा ज़रूर बनती थी। इसलिए कि हफ़्ते में चार-पाँच दफ़ा प्रोफ़ेसर के सम्मान में कहीं न कहीं स्वागत समारोह होता था, जहाँ पहली पंक्ति में ताली बजाते हुए फ़ोटो खिंचवाने के दायित्व हमारे ज़िम्मे होते थे। (मिर्ज़ा कहते हैं बड़े आदमियों के भाषण के बाद तुम्हारी ताली बिल्कुल अलग सुनाई देती है) दफ़्तर में अपनी मसरूफ़ियत के बारे में दिन भर बातें कर-करके प्रोफ़ेसर ख़ुद को बुरी तरह थका लेते थे। एक लम्बे समय तक नेकी और नाकामी की ज़िंदगी बसर करने के बाद अब वे जहाँ नज़र आते, गोटे के हार पहने, उदघाटन के फ़ीते काटते नज़र आते। यहाँ तक सुनने में आया कि इन तमाम स्वागत समारोहों का ख़र्च प्रोफ़ेसर ख़ुद उठाते हैं। सिर्फ़ एक स्वागत समारोह का भार उन्होंने नहीं उठाया। उसका तफ़सीली हाल हम आपको सुना चुके हैं। सात-आठ महीने तक तो उनकी नियुक्ति की ख़ुशी में दावतें होती रहीं और उसके बाद शायद इस ख़ुशी में कि वे अभी तक बर्ख़ास्त नहीं हुए थे। हो यह रहा था कि सस्ती और फ़िल्मी पत्रिकाएँ बैंक के विज्ञापन की घात में रहतीं और मौक़ा पाते ही (जो प्रोफ़ेसर लगातार प्रदान करते

---

[1] शेख़ इमामबख़्श 'नासिख़' (1772-1838): उर्दू शायरी के लखनऊ स्कूल के नुमाइंदा शायर। इन्होंने उर्दू शायरी में अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग पर बहुत ज़ोर दिया और हिन्दी भाषा के शब्दों को शायरी से निकालने की कोशिश की। (अनु.)

रहते थे) नपा-तुला वार कर जातीं। यानी प्रोफ़ेसर का "टी.एस. इलियट व शेख़ इमामबख़्श 'नासिख़' की तुलना" जिसमें उन्होंने गौरैया को गरुड़ से लड़ाया था, अक्षरशः छाप देतीं। प्रोफ़ेसर बेचारे अब "तुलना" को जितना दबाना और छिपाना चाहते, पत्रिकाएँ उतना ही उसे उछालतीं। मानो लेखक को उसी के लेख से ब्लैकमेल कर रही थीं। प्रोफ़ेसर को शहर के एक-एक बुक-स्टाल से ऐसे अंकों की तमाम कापियाँ बैंक के ख़र्च पर ख़रीदकर जलानी पड़तीं ताकि लोग "तुलना" न पढ़ पायें। अब वे अपने गड़े मुर्दे को उखड़वाकर रूह फुंकवाते-फुंकवाते आजिज़ आ चुके थे। मजबूरन "तुलना" की जगह बैंक ऑफ़ चाकसू के बारह विज्ञापन बुक करके एडिटर के मुँह पर एक साल के लिए सोने का ताला लगा देते।

प्रोफ़ेसर को उनके अतीत के मलबे से खींचकर निकालने का सेहरा मिर्ज़ा के सिर बँधता है। उनकी मानसिक बसावट में जो कठिनाइयाँ सामने आईं, उनको समेटना इस संक्षिप्त से लेख में हमारे बस की बात नहीं। प्रोफ़ेसर को अच्छे-बुरे की पहचान ज़रूर थी। और अगर दृष्टि-शक्ति फ़्रांस की शैम्पेन से प्रभावित न हो तो स्याह व सफ़ेद में भी फ़र्क़ कर सकते थे बशर्तेकि इन रंगों का सम्बन्ध नारी त्वचा से हो। मगर छोटे-बड़े व्यापारी की पहचान? यह सवाल उन्हें हमेशा पाठ्यक्रम से बाहर मालूम होता था। किसी का "बैंक बैलेंस" माथे पर तो लिखा होता नहीं। चुनांचे एक-दो महीने तक यह रवैया रहा कि अगर कोई व्यक्ति मैला-मसला कुरता पाजामा पहने, दाढ़ी बढ़ाए, अंगूठे और तर्जनी से बाछों की पीक पोंछता बिना कार्ड भेजे कमरे में मुँह उठाये चला आता तो उसे धक्के देकर तो न निकालते मगर इस तरह पेश आते कि इस कष्ट की ज़रुरत ही न पड़ती। ग़लत उर्दू बोलने वालों को चाय तक के लिए न टोकते। लेकिन जब पहली ही बोर्ड मीटिंग में उन्हीं में के चार व्यक्तियों को डायरेक्टरों की सुर्ख़ मख़मली कुर्सियों पर विराजमान देखा (जिनसे अपने कमरे में उन्होंने हाथ भी नहीं मिलाया था ताकि बाद में रगड़-रगड़कर न धोना पड़े) तो उनकी आँखें खुल गईं और चार अंकों वाली तनख़्वाह ख़तरे में नज़र आने लगी। फिर तो दिल में ऐसी दहशत बैठी कि सड़क पर कोई भी मैले-कुचैले कपड़ों में नज़र आ जाता तो फ़ौरन सलाम कर लेते।

प्रोफ़ेसर की बौखलाहट से उनकी महान ज़िम्मेदारियों का अंदाज़ा होता था। और उन महान योग्यताओं का भी जिनके बग़ैर वे बखूबी गुज़ारा कर रहे थे। हवास उड़े हुए, भाषा खिचड़ी, लबो-लहजा उखड़ा-उखड़ा। और बात भी कुछ ऐसी ही थी। ग़ौर तो फ़रमाइए। अभी मुल्तान के चमड़े और ऊन के व्यापारियों के साथ यह शर्त बदी जा रही है कि हाजियों के पहले जहाज़ की वापसी पर तेज़ाबी सोने का भाव कितना गिरेगा। और अब FANNY HILL के ख़ून के दौरान को तेज़ करने वाले अंश मेज़ की दराज़ से निकालकर सुनाए जाने लगे। पाँच मिनट पहले एक इश्तेहार माँगने वाले से हाथपाई होते-होते रह गई कि उसने मुँह भरकर यूँ कह दिया था कि आप हर-फिर कर अंधों को ही रेवड़ी बाँटते हैं। और अब इस मसले पर बहस हो रही है कि पानी के दरियाओं[1] से जो नुक़सान पूर्वी पाकिस्तान में हुआ है, उससे बैंको की व्याज दर और

[1] उस ज़माने में क़ुर्रतुऐन हैदर के उपन्यास "आग का दरिया" का नाम लोगों की ज़बान पर इस तरह चढ़ा हुआ था कि जब भी असली दरिया का ज़िक्र होता तो प्रोफ़ेसर महोदय संदिग्धता से बचने के लिए पानी का दरिया कहते थे। (ले.)

उर्दू रुबाई[1] पर क्या असर पड़ेगा। एक रिसीवर यह कहकर रख दिया कि "ज़रा एक मिनट रुकिए, मैं हांगकांग डॉलर का भाव अभी मालूम करके बताता हूँ।" दूसरे फ़ोन पर अचानक अपना गियर बदलकर कहने लगे "वाह! वाह! क्या फड़कता हुआ मिसरा निकाला है! ज़रा पाँच मिनट बाद दूसरा भी इनायत कीजिएगा।" मगर दूसरे मिसरे वाली घंटी पाँच के बजाय दो मिनट बाद ही बजने लगी। "हेलो! हेलो! वल्लाह! क्या तेवर हैं! बिल्कुल 'मोमिन[II]' जैसा अंदाज़ है! हायं? क्या कहा? 'मोमिन' ही का शेर है!! लाहौल-व-ला क़ूवत! मैं तो समझा आपका है! मगर 'मोमिन' की भी क्या बात है! कभी-कभी ज़ालिम बिल्कुल आप ही के अंदाज़ में शेर कह जाता है!" कारोबारी दुनिया में आम तौर पर शेरो-शायरी की गुंजाइश नहीं होती। मगर प्रोफ़ेसर ने निकाल ली थी। महीनों तक यह हाल रहा कि हर दो जुमले के बाद एक शेर झाड़ देते थे। और यह जुमले भी दरअसल शेर ही की भूमिका या प्रशंसा में होते थे। वर्ना उन्हें छूट दे दी जाती तो बैंककारी की पेचीदा से पेचीदा समस्या का दो टूक फ़ैसला दीवान-ए-हाफ़िज़ से फ़ाल[III] (शगुन) निकालके कर सकते थे। मिर्ज़ा एक दफ़ा उनसे मिलने गए तो क्या देखते हैं कि फ़ार्मिका की दूज के चाँद नुमा मेज़ के गिर्द सुरीले गले वाले मरभुक्खे शायर खाने-पीने की चीज़ों से ज़बान सेंक रहे हैं और बैंक में दिन दहाड़े मुशायरा लूट रहे हैं। टेलीफ़ोन का रिसीवर उतारकर शायर के सामने रख दिया गया है ताकि मुशायरे की कार्यवाही सिब्गे तक "रिले" की जा सके जो चार मील दूर सद्दर में अपनी किताबों की दूकान में डेढ़ घंटे से बाएँ हाथ में फ़ोन लिए बैठे हैं, और दायें हाथ से गाहकों को इस वक़्त किताबें ख़रीदने से मना कर रहे हैं। शायर को कभी-कभी रिसीवर कान से लगाकर सिब्गे की दाद सुनवा दी जाती है और वह उठ-उठकर लखनवी अंदाज़ से फ़ोन को आदाब बजा लाता है।

मिर्ज़ा बेचारे तो किसी काम से गए थे। लेकिन दरवाज़े की दरार से झाँककर यह नक़्शा देखा तो सरकारी काम को उनकी तफ़रीह में बाधक पाकर उल्टे पाँव लौट आये। शेरो-शायरी से मिर्ज़ा का अरसिक स्वभाव यूँ भी परहेज़ करता है। और मुशायरों से तो वे कोसों दूर भागते हैं। ख़ास तौर पर बड़े मुशायरों से। कहते हैं "साहब! जो शेर एक साथ पाँच-छह हज़ार आदमियों की समझ में आ जाए, वह शेर हो ही नहीं सकता। उसमें ज़रूर कुछ-न-कुछ खोट निकलेगा।" मिर्ज़ा ने जब देखा कि प्रोफ़ेसर को गद्य में अपने विचार प्रकट करने में बड़ी दिक़्क़त होने लगी है तो समझाने बैठ गए "प्रोफ़ेसर! यह साहूकारी संसार है। सही उर्दू से गुजराती सेठ बेहद रौब खाता है, मगर सौदा बिगड़ जाता है। किसी ने मुझे बताया कि दो सेठ अलग-अलग वक़्त में तुम्हारे बैंक में अकाउंट खोलने आये। लेकिन एक मेमन को तो तुम्हारी सेक्रेटरी ने घुसने नहीं दिया। और दूसरे चिन्योटी व्यापारी ने, जो रक़म जमा कराने आया था तुम्हें बैंक में देखकर फ़ौरन इरादा बदल दिया और अपनी

---

[1] रुबाई: चार मिसरों (पंक्तियों) वाली कविता जिसके पहले दूसरे और चौथे मिसरे में तुक होता है। (अनु.)

[II] मोमिन ख़ाँ मोमिन (1800 -1851): उन्नीसवीं सदी दिल्ली के महान उर्दू शायरों में से एक। मिर्ज़ा 'ग़ालिब', शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' और बहादुर शाह 'ज़फ़र' के समकालीन शायर। अपनी रोमानी ग़ज़लों के लिए ख़ास तौर से प्रसिद्द हैं। (अनु.)

[III] फ़ाल निकालना: शगुन निकालना। मुसलमानों में फ़ारसी के महान शायर हाफ़िज़ शीराज़ी के दीवान से फ़ाल निकालने का रिवाज रहा है। वज़ू करके दीवान के शुरू में तालिका पर आँख बंद करके तर्जनी रखी जाती है जिसका नम्बर दीवान की किसी ग़ज़ल के एक शेर तक पहुँचाता है। उसी शेर में शगुन का संकेत मौजूद होता है। (अनु.)

जमा-जत्था टोपी में छिपाके कहने लगा कि मैं तो दरअसल ओअर-ड्राफ़्ट लेने आया था। कमाल यह कि तुमने वाक़ई उसे ओअर-ड्राफ़्ट दिलवा दिया, जिससे उसने उसी वक़्त दूसरे बैंक में जाकर अकाउंट खोल दिया और यूँ दिल वालों को पन्सारियों ने लूट लिया।"

मिर्ज़ा उन्हें शेर सुनाने से बाज़ रख सकते थे, लेकिन शेर सुनने पर कैसे पाबंदी लगाई जा सकती थी। प्रोफ़ेसर सामने बैठे हुए शायर का मिसरा उठाने[1] से इनकार कर सकते थे, लेकिन उनका मुँह कैसे बंद करते जो गुफ़्तगू के लिए फ़ुर्सत को ग़नीमत जानकर फ़ोन पर ही ख़ून थूकने लगते थे। एक दिन प्रोफ़ेसर बुरी तरह बौखलाए हुए थे, क्योंकि आध घंटे बाद बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्ज़ की बैठक थी, जिसमें बैंक का पब्लिसिटी बजट मंज़ूरी और गाली-गलौज के लिए पेश होने वाला था। उनकी सूरत ऐसी हो रही थी जैसी इश्तेहारों में उन लोगों की होती है, जिनको "हॉर्लिक्स" की ज़रुरत होती है। मेज़ पर काग़ज़ात का अंबार लगा हुआ था। कमरे के बाहर लाल बत्ती जल रही थी, जिसका मतलब यह था कि आज वे आलतू-फ़ालतू आदमियों यानी अपने ख़ास मित्रों से मुलाक़ात नहीं करेंगे।

इतने में सफ़ेद टेलीफ़ोन[2] की बैठी-बैठी आवाज़ वाली घंटी बजी और दूसरे सिरे से गोदाम कीपर की नौकरी के एक उम्मीदवार हज़रत 'मदहोश' माधोपुरी ने अपने तख़ल्लुस जैसे तरन्नुम में अपनी नवरचित कविता सुनानी शुरू की। हालाँकि यह तोड़ का समय था और प्रोफ़ेसर को सिग्रेट की राख तक झाड़ने की फ़ुर्सत न थी, लेकिन कविता के आरंभिक बंद उन्हीं की प्रशंसा में थे। और अल्लाह की शान! इसमें इस क़दर अतिश्योक्ति से काम लिया गया था कि फ़ोन बंद करने को किसी तरह जी न चाहा। ख़ुदा जाने कब का लिया दिया आड़े आ गया कि बीस मिनट बाद फ़ोन ख़ुद-बख़ुद ख़राब हो गया और प्रोफ़ेसर अपनी नीली 'बो' ठीक करते हुए बोर्ड-रूम की तरफ़ भागे। बैठक एक बजे ख़त्म हो गई मगर फ़ोन शाम तक ख़राब रहा।

प्रोफ़ेसर ने जानबूझकर उसे ठीक नहीं कराया, इसलिए कि वे अपनी सेक्रेटरी को एकाग्रता के साथ मीटिंग की कार्यवाही लिखवाना चाहते थे। टेलिफ़ोन ऑपरेटर ने भी फ़ोन मिलाने बंद कर दिए और चंद घंटे शान्ति से गुज़रे। वे कार्यवाही लिखवा ही रहे थे कि एकाएक सफ़ेद फ़ोन की घंटी आप ही आप बजने लगी। वे उछलकर अपनी सेक्रेटरी की गोद में जा पड़े और देर तक वहीं बेसुध पड़े रहे। उसी हालत में उसके चुटकी लेकर देखा कि जाग रहा हूँ या ख़्वाब में हूँ। जब उसने पटाख़ से गाली दी तो उन्हें यक़ीन आया कि ख़्वाब नहीं है! रिसीवर उठाकर बोले "हेलो! काज़ी आब्दुल कुद्दुस हीयर! काज़ी दिस साइड!" उधर से आवाज़ आई "जी! बजा फ़रमाया! मगर मैं तो 'मदहोश' माधोपुरी अर्ज़ कर रहा हूँ। ख़ुदा की क़सम! सुबह दस बजे से आपका फ़ोन

---

[1] मिसरा उठाना: ग़ज़ल के अशआर सुनाते वक़त शायर हर शेर के पहले मिसरे (पंक्ति) को दोहराता है। उसके साथ श्रोता भी मिसरे को दोहराते हैं। इसे मिसरा उठाना कहते हैं। यह शायरी सुनने के शिष्टाचार में शामिल है। इससे शायर को लगता है कि उसके शेर तवज्जो से सुने जा रहे हैं। मिसरा न उठाना एक प्रकार की ख़ामोश हूटिंग है। (अनु.)

[2] सफ़ेद टेलीफ़ोन----यह उनका प्राइवेट वी.आई.पी. था जो डायरेक्टरी में दर्ज नहीं होता था। और जो सिर्फ़ बहुत अहम या बेहद बेहूदा गुफ़्तगू के लिए आरक्षित था। अवसत दर्जे की बातों से मामूली टेलिफ़ोन पर निपट लेते थे। दफ़्तर के भीतर बुरा-भला कहने के लिए सुरमई और सुनने के लिए स्याह उपकरण इस्तेमाल करते थे। (ले.)

ठीक कराने में लगा हूँ। ख़ुदा झूठ न बुलवाए। दस जगह शिकायत नोट कराई होगी। आख़िर झक मारकर ख़ुद टेलिफ़ोन एक्सचेंज गया और एक-एक की ख़बर ले डाली। जब कहीं जाकर पाँच बजे आपकी घंटी बजी है। जी! तो शेर अर्ज़ है-------"

और वे छह बजे तक अर्ज़ करते रहे!

कोई दिन ख़ाली जाता होगा कि शर्मिंदगी और सिड़ीपन की कोई न कोई नई सूरत न पैदा हो।

एक दिन (शायद सोमवार का दिन था, जिसे मिर्ज़ा काला-दिवस कहते हैं। अक्सर भविष्यवाणी करते हैं कि देख लेना क़यामत सोमवार ही के दिन आएगी) बैंक में उदास बैठे अपने ख़ास अंदाज़ से -----यानी प्याली होंठों से लगाते वक़्त छंगुलिया उठाये हुए ------फ़्रेंच कॉफ़ी पी रहे थे। आदत के अनुसार आँखें सिकोड़ रखी थीं, हालाँकि इस समय दिव्य मुखड़े के गिर्द सिग्रेट के धुएँ का प्रभामंडल नहीं था। कॉफ़ी के हर घूँट के बाद बाएँ हाथ से उस ख़याली धुएँ को हटाते जाते थे ताकि मिचमिची आँखों में न घुसने पाए। इतने में पत्रिका "मीना बाज़ार" की एडिटर आ निकलीं। प्रोफ़ेसर ने कहा आप पचीस साल से बिल्कुल वैसी-की-वैसी ही हैं! बहुत ख़ुश हुईं। हालाँकि प्रोफ़ेसर का मतलब असल में यह था कि जैसी बदसूरत आप पचीस साल पहले थीं, वैसी ही अब भी हैं। मोहतरमा ने "मीना बाज़ार" का नया अंक पेश किया। प्रोफ़ेसर मुखपृष्ठ पर किसी ऐक्ट्रेस के बजाय अपनी फ़ोटो देखकर भौंचक्के रह गए। सबसे तकलीफ़देह बात यह थी कि तस्वीर बिल्कुल उनसे मिलती थी। बेहतर न थी।

"मीना बाज़ार" में इश्तेहार निकलना था कि तमाम स्त्री-पत्रिकाओं ने हमला कर दिया और प्रोफ़ेसर सोचते ही रह गए

खाऊँ किधर की चोट, बचाऊँ किधर की चोट

"आँचल" के संपादक से जो ऐतिहासिक मुचैटा हुआ, उसके संवाद पाक बोहीमियन कॉफ़ी हाउस के बैरों तक मुँह ज़बानी याद हैं। प्रोफ़ेसर को संपादक महोदय से पहली नज़र में नफ़रत हो गई। वह तो ख़ैरियत हुई, वर्ना प्रोफ़ेसर का सीना अगर 34 इंच के बजाय 43 इंच होता तो पहली ही मुलाक़ात में उनका "लिथो[1]" बना डालते। यह पत्रिका पैंतीस साल से उन्हीं महिलाओं की सेवा किये जा रही थी जो उस वक़्त पैंतीस साल की थीं, जब पत्रिका का पहला अंक निकला था। क़िस्सा-कहानी की ओट में यही शरीफ़ महिलाएँ अपनी हमउम्र महिलाओं को और ज़्यादा शरीफ़ रहने की नसीहत करती रहती थीं। पत्रिका ऐसी अश्लील कहानियों से बिल्कुल पाक थी जिनसे हर व्यक्ति अपनी अरसिकता के अनुपात में मज़ा ले सके। कामुक कहानियों के बजाय पत्रिका में कुँवारियों-बालियों को पलंग की कोरी चादर पर क्रोशिये से "ख़ुशामदीद" काढ़ने के तरीक़े सिखाए जाते थे। साहित्य का स्वभाव इतना बदल चुका था कि जो शायर पैंतीस बरस पहले दुनिया को माया-जाल समझते थे, वे इसे अब सरमाया (पूँजी)-जाल कहने लगे थे। लेकिन "आँचल" के लिखने वाले आज भी औरतों को 'मस्तूरात'

[1] लिथो बनाना: ऐसी मार मारना कि अपने भी सूरत न पहचान सकें, जैसा कि उर्दू लिथो की छपाई में होता है। (ले.)

कहते और माहौल पर लाहौल भेजते हैं। नई तराश की चोली में इन बुज़ुर्गों को क़यामत के क़रीब होने के आसार दिखलाई देते हैं। हालाँकि हमारे मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग तो उल्टी तमन्ना करते हैं कि साहब! अगर क़यामत के क़रीब होने की सचमुच यही निशानियाँ हैं तो फिर जल्दी से सूरज सवा नेज़े पर[1] आ जाए कि ज़िन्दगानी का कोई भरोसा नहीं। और साहब!

ज़िन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ[2]

महोदय ने आते ही फ़रमाइश की कि "तुलना" की टक्कर की कोई चीज़ "आँचल" के लिए प्रदान की जाए। प्रोफ़ेसर ने उन्हें सूचित किया कि समय के अभाव के कारण वे विगत पचीस वर्ष से कुछ नहीं लिख सके। मतलबी सलाम ठोंकने के बाद मतलब की बात ज़बान पर लाए: इश्तेहार चाहिए। प्रोफ़ेसर ने बहाना किया, सालाना बजट ख़त्म हो चुका है। फ़रमाया "चलिए, कोई हर्ज नहीं। बैंक के रजिस्टरों और फ़ॉर्मों का सालाना ऑर्डर ही आँचल प्रेस को प्रदान कीजिए।" प्रोफ़ेसर ने जवाब दिया "मगर सात लाख रूपये की स्टेशनरी आप एक ट्रेडल मशीन पर दस बरस में भी नहीं छाप सकेंगे।" फ़रमाया "तो फिर बैंक से पचास हज़ार का 'क्लीन-चिट ओअर-ड्राफ़्ट' ही दिलवा दीजिए।"

प्रोफ़ेसर के सब्र का लघु पैमाना छलक गया। दफ़्तरी संयम और सावधानी को त्यागकर फ़रमाया "आपके मुतालबों का क्रम बिल्कुल उल्टा है। बखुदा! बिल्कुल उल्टा! चाहिए तो यह था कि पहले आप पचास हज़ार क़र्ज़ माँगते। इसके बाद स्टेशनरी के ऑर्डर की फ़रमाइश करते। यह भी नहीं मिलता तो इश्तेहार माँगते। फिर भी मैं इनकार करता तो लेख तलब करते। फिर मेरी हिम्मत नहीं होती कि इनकार करता। शरमा-शरमी में लेख तो दे ही देता।"

बोले "अरे साहब! यही तो मुझे भी अंदेशा था!"

बच्चों की पत्रिकाएँ हमेशा से तवज्जो से वंचित थीं। आख़िर यह कुफ़्र इस तरह टूटा कि पत्रिका "बाल-क्रीड़ा" ने एक भारी-भरकम विशेषांक "विज्ञापन नम्बर" निकालने की घोषणा की और उसके बाद यह पत्रिका भी बैंक के विज्ञापनों से नवाज़ी जाने लगी। अल्लाह बेहतर जानता है कि वे "विज्ञापन नम्बर "पर रीझ गए या उसकी संपादक आँसा सुमंता फ़रज़ूक़ की नयन कटार से राज़ी-खुशी ढेर हुए। सफ़ेद शलवार, सफ़ेद क़मीज़, सफ़ेद दुपट्टा, सीधी माँग, नंगे हाथ, नंगे कान। हमें तो वे किसी तरफ़ से ऐसी नहीं लगती थीं कि आदमी के पाँचों हवास पर डाका डाल सकें या पहली ही मुलाक़ात में प्रोफ़ेसर के ईमान के क़िले की ईंट से ईंट बजा दें। लेकिन

---

[1] सूरज सवा नेज़े पर: धारणा है कि क़यामत आयेगी तो सूरज बहुत नीचे यानी ज़मीन से सिर्फ़ सवा नेज़े (भाले) के फ़ासले पर आ जाएगा और सारा संसार पिघल जाएगा। (अनु.)

[2] सैर कर दुनिया की गाफ़िल, ज़िन्दगानी फिर कहाँ// ज़िन्दगी गर कुछ रही तो यह जवानी फिर कहाँ (ख़्वाजा मीर दर्द)

याद रहे कि प्रोफ़ेसर कुँआरे थे। चालीस साल के थे। और हालिया जनगणना में अपनी गणना मर्दों में करवा चुके थे। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हमारे हीरो ने आज तक कोई औरत ऐसी नहीं देखी, जिसको वे नापसंद कर सके। किनारे को तरसा हुआ माँझी हर उथली खाड़ी में लंगर डाल देता है। आँसा सुमंता ने आते ही खुशख़बरी सुनाई कि उन्होंने "तुलना" को बच्चों के लिए आसान उर्दू में तब्दील किया है। यानी शेख़ इमामबख़्श 'नासिख़' के बजाय मौलवी इस्माईल मेरठी[1] को भिड़ा दिया है। अलबत्ता अशआर वही रहने दिए हैं ताकि लेख की असल शान बरक़रार रहे। अब महोदया इस लेख के साथ लेखक से इंटरव्यू की रूदाद, ताज़ा तस्वीर सहित, प्रकाशित करना चाहती थीं और इस सिलसिले में प्रोफ़ेसर को अपने यहाँ शनिवार को चाय पर दावत देने आयी थीं। प्रोफ़ेसर ने बहुतेरा बहाना किया कि शनिवार की शाम को मुझे बहुत काम है। तीन कॉकटेल पार्टियों में एक के बाद दूसरी में शिरकत करनी है। लेकिन वे न मानीं। अनवरत इनकार से उनकी आँखों में आँसू तैरने लगे।

प्रोफ़ेसर को औरतों के आँसुओं की ज़रा सहार नहीं। बल्कि सच तो यह है कि औरत की किसी चीज़ की सहार नहीं!

इसलिए तय यह पाया कि प्रोफ़ेसर तीनों कॉकटेल पार्टियाँ लश्तम-पश्तम भुगताकर साढ़े सात बजे तक उनके घर पहुँच जाएँगे।

प्रोफ़ेसर का अपना बयान था कि उन्होंने तीनों कॉकटेल पार्टियों में अपने प्रोटोकॉल दायित्वों को निभाने में "अपनी तरफ़ से तो कोताही में कोई कमी नहीं की!" मिर्ज़ा के कंधे पर अपना सारा बोझ डाले, वे जिमख़ाने से मैख़ाना हथेली पर रखे और जिमख़ाना-बदोश आँसा सुमंता के यहाँ चाय नोश फ़रमाने पहुँचे तो दस बज रहा होगा। जिस समय वे अपनी तीस हाथ लम्बी कैडिलैक से उतरे हैं तो मिर्ज़ा के बयान के मुताबिक़ उनका दायाँ पाँव उस जगह पड़ रहा था जहाँ बायाँ पड़ना चाहिए था। और जिन अक्षरों की आवाज़ें हम जैसे लोगों के मुँह से निकलती हैं, वो उनकी नाक से आसानी से निकल रही थीं। गैलरी से गुज़रते वक़्त उन्होंने एक गिरती हुई दीवार को अपनी पीठ से सहारा देने की कोशिश भी की। फिर इंटरव्यू शुरू हुआ और टेप-रिकॉर्डर चलने लगा।

मिस सुमंता ने चंद औपचारिक प्रश्नों के बाद पूछा कि आप अभी तक कुँआरे हैं। किस तरह की बीवी अपने लिए पसंद करेंगे? प्रोफ़ेसर ने झूमते हुए फ़रमाया कि मुझे आज़ाद-ख़याल बीवी बहुत पसंद है-----बशर्तेकि वह किसी दूसरे की हो! महोदया ने पल्लू मुँह में ठूँसते हुए जन्म-वर्ष पूछा तो प्रोफ़ेसर ने 2419 बताया और स्पष्टीकरण के लिए A.D. (ईसा पश्चात) भी कहा ताकि सुनने वाले को मुग़ालता न हो। महोदया ने चंदराकर[2] कहा, मगर आप तो शकल से सिर्फ़ चालीस साल के लगते हैं। इसकी क्या वजह है? प्रोफ़ेसर ने जवाब दिया कि इसकी एक वजह तो यह है कि मैं चालीस ही साल का हूँ! फिर दूसरी वजह की व्याख्या व विस्तार करते हुए

---

[1] मौलवी इस्माईल मेरठी (1844-1917): बच्चों के लिए नैतिक कविताएँ लिखने के लिए प्रसिद्द हैं। इन कविताओं में आसान उर्दू में प्रकृति और रोज़मर्रा की घटनाओं के बड़े सजीव चित्रण हैं। (अनु.)

[2] चंदराकरः अनजान बनकर; चंदरानाः जानबूझकर अनजान बनना। (अनु.)

फ़रमाया कि उपन्यासकार जॉर्ज मूर से किसी पत्रकार ने पूछा कि आप अस्सी साल की उम्र में भी लाल-भभूके और सफ़ेद पाए जाते हैं, इसका क्या राज़ है? उसने जवाब दिया कि मैंने शराब, सिग्रेट और सेक्स को बिल्कुल हाथ नहीं लगाया-----जब तक कि मैं ग्यारह साल का न हो गया!

हमारे एकतरफ़ा बयान से यह न समझा जाए कि प्रोफ़ेसर तरंग में अपनी ही ख़ूबियाँ बताते रहे। उनकी नज़र दूसरों पर भी थी। मसलन उन्होंने महोदया का ध्यान एक ऐसी ख़ूबी की तरफ़ आकर्षित कराया, जिससे वे बिल्कुल बेख़बर मालूम होती थीं। "आपकी पसंद" का सवाल आया तो प्रोफ़ेसर ने 'मोतिया, 'मुसहफ़ी'[1], शनिवार की शाम, हेनरी मिलर, महावट, दाल भरे गरम पराठे, रेशमी दुलाई, नीग्रो कुँआरी' का ज़िक्र करते-करते

"भई! आपका दायाँ कान सचमुच बहुत ख़ूबसूरत है!"

ऐसे सूखे मुँह से कहा कि महोदया के बाएँ कान को यक़ीन नहीं आया कि उनका दायाँ कान क्या सुन गया। मिर्ज़ा कहते हैं कि सुमंता फ़रज़ूक़ के दोनों कानों में बज़ाहिर कोई फ़र्क़ नहीं था, लेकिन प्रोफ़ेसर ने दाएँ को ख़ासतौर से अपनी प्रशंसा का निशाना बनाया तो शायद इसकी वजह यह एहतियात थी कि उस वक़्त उन्हें सिर्फ़ दायाँ कान ही नज़र आ रहा था। बहरहाल यह जुमला भी रिकॉर्ड हो गया और इसके साथ वो हिचकियाँ भी जो हर शब्द के बाद उनकी ख़ुमार-कथा में "फ़ुल-स्टॉप"लगा रही थीं। प्रोफ़ेसर ने जब तीसरी दफ़ा ये तारीफ़ी शब्द महोदया के कान में उंडेले तो उन्होंने टेप-रिकॉर्ड आहिस्ता से "स्विच ऑफ़" कर दिया। और सफ़ेद दुपट्टा अपने सिर पर इस तरह लपेट लिया जैसे इबादत गुज़ार बीबियाँ नमाज़ पढ़ते वक़्त लपेट लेती हैं। जैसे ही वे चाय लेने अन्दर गईं तो मिर्ज़ा के गले में हाथ डालकर कहने लगे

"इनका दायाँ वाक़ई बहुत ख़ूबसूरत है।"

बीच में मिर्ज़ा ने दो-तीन दफ़ा आँखों ही आँखों में उठने का इशारा किया तो प्रोफ़ेसर ने इस तरह हाथ घुमाया जैसे चक्की पीस रहे हों। इसका मतलब था कि वे वहीं मिर्ज़ा का लिथो बना देंगे।

वे मेज़ पर ट्रे रखने के लिए झुकीं तो दुपट्टा ढलककर गले में आ गया और प्रोफ़ेसर ने चुपके से दायें कान में वही जुमला दोहरा दिया। अब की बार जो महोदया ने ढाटा बाँधा तो आख़िर तक नहीं खोला। ख़ुदा-ख़ुदा करके पौने बारह बजे इंटरव्यू अपने अंजाम को इस तरह पहुँचा कि प्रोफ़ेसर को बीच जुमले में नींद आ गई। मिर्ज़ा ने मुँह पर पानी के छपके देकर जगाया। महोदया चंद मिनट बाद महोदय को कार में सवार कराने बाहर तशरीफ़ लाईं। रुख़सत के वक़्त आदाब बजा लाने के लिए उन्होंने अपनी सुराहीदार गर्दन मोड़ी तो दुपट्टे का ऐंडुआ फिर सीने पर आ रहा और प्रोफ़ेसर ने जवाब में तर्जनी उठाते हुए फ़रमायाः

"आदाब! और बायाँ भी------"

और वे झेंपकर दायें-बाएँ कानों पर हाथ रखे अन्दर भाग गईं।

---

[1] गुलाम अली हमदानी 'मुसहफ़ी' (1748-1824): उर्दू भाषा के क्लासिकी शायर। मीर तक़ी 'मीर' के समकालीन। प्राचीन उर्दू शायरी में बहुत प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। उनकी शायरी में दिल्ली और लखनऊ स्कूलों की शायरी के रंगों का मिश्रण है। ग़ज़लों में स्वस्थ काम भावना, अध्यात्म और नैतिकता आदि विषय मौजूद हैं। (अनु.)

सुबह मिर्ज़ा ने प्रोफ़ेसर को उनके निशाकालीन वचनों व कर्मों से अवगत कराया तो उन्हें यक़ीन नहीं आया कि ऐसी नालायक़ी उनके व्यक्तित्व से घटित हो सकती है। उसी समय जाकर उस नेक बीबी से माफ़ी माँगने की ज़िद करने लगे। मिर्ज़ा ने बड़ी मुश्किल से रोका। उस रात उन्हें मारे शर्म के नींद नहीं आई। नींद तो दूसरी रात भी नहीं आई, मगर किसी और वजह से। वह वजह यह थी कि महोदया खुद बैंक में तशरीफ़ लाईं और कहने लगीं कि एक पुर्ज़े की ख़राबी की वजह से उस रात इंटरव्यू ठीक से रिकॉर्ड नहीं हुआ। लिहाज़ा दोबारा चाय पर आने का कष्ट करें।

और हाँ! आज वे (दोनों) कानों में मोतिया की कलियों की बालियाँ पहने हुए थीं। कान की लौ न जाने कितनी बार गुलाबी हुई होगी कि जब वे विदा हुईं तो एक कली खिल चुकी थी।

1965-1968 ई.

(ख़ाकम ब-दहन)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क